

छठी शताब्दी ई०पू० में आर्थिक विकास के तत्व

चन्द्रोदय सिंह

प्राचीन इतिहास एवं पुरात्व विभाग, डॉ. राम मनोहर लोहियाए अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

इतिहास एक सतत् प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत हम मानव के ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा इन सब का समग्र रूप से तत्कालीन समाज पर पड़ने वाले प्रभाव एवं परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं। ये परिवर्तन कहीं सूक्ष्म रूप में एवं कहीं विशाल रूप में नवीन परिस्थितियों को जन्म देते हैं। ये परिस्थितियाँ आवेश मानव के सभी पक्षों को प्रभावित करते हुए नवीन प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। ये प्रवृत्तियाँ यदि तीव्र गति में होती हैं तो यह मानव जीवन में सभी पक्षों में आमूल चूल परिवर्तन करती हैं ऐसा ही क्रांतिकारी परिवर्तन भारतीय इतिहास के छठी शताब्दी ईसा पूर्व में दृष्टिगोचर होता है जिसे सामान्त्या हम द्वितीय नगरीय क्रांति की संज्ञा देते हैं।

इतिहास प्रत्येक काल में युगीन प्रवृत्तियों के अनुरूप नवीन विवेचना की मांग करता है। भारतीय ऐतिहासिक परम्परा में कतिपय ऐसे चरण हैं जहाँ इतिहासकार उसकी महत्ता को समझते हुए उसे पृथक-पृथक रूप से विवेचित करने का प्रयास करते हैं।¹ 6वीं शताब्दी भी ऐसा ही काल है। उत्तर वैदिक काल के पश्चात् छठी शताब्दी ईसा पूर्व की तत्कालीन प्रवृत्तियाँ इतनी क्रान्तिधर्मी एवं जटिल थी कि उन्होंने सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक, आर्थिक आदि महत्वपूर्ण गतिविधियों को उद्भेदित किया, यह परिवर्तन हमें राजनीतिक स्तर पर साम्राज्यवादी चरण में व धार्मिक स्तर पर जैन-बौद्ध जैसे धार्मिक आन्दोलनों तथा आर्थिक स्तर पर सम्पूर्ण एशियाई क्षेत्र में व्यापक व्यापार-वाणिज्य का प्रसार तथा सामाजिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में लोहे का अनुप्रयोग भौतिक जीवन में क्रान्ति का मुख्य कारक था। उत्तर-वैदिक काल से ही आर्य लोहे के प्रयोग से परिचित हो चुके थे। उत्तर वैदिक साहित्य में लोहा अथवा श्याम अयस् का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। (तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण इत्यादि)। चित्रित घूसर मृदभाण्ड संस्कृति के स्थलों से लोहे के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। जिसमें अंतरंजीरवेड़ा, अहिच्छत्रा, आलमगीरपुर, चिरांद, महिबदल, हस्तिनापुर इत्यादि।² गया जिले के सोनपुर में काले व लाल मृदभाण्डों से संबद्ध उभरी काली ओपदार मृदभाण्ड परम्परा के पूर्व काल के सबसे ऊपरी स्तरों से लौह अयस्क के पिण्ड एवं लौह-मूल प्राप्त हुए हैं। दक्षिण बिहार में लाल एवं काले मृदभाण्डों के साथ लोहे का एक प्राचीनतम संसर्ग है। इस स्थल से उत्तरी काली ओपदार मृदभाण्ड परम्परा के बल्ली वाणाग्र पुरे, कुलहाड़ी कील, छेनी, ब्लेड इत्यादि लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं।

भागलपुर जिले के चम्पा के प्राचीन रथ में अनेक लौह-मल के पिण्ड प्राप्त हुए हैं। यहां उत्तरी काली ओपदार मृदभाण्ड परम्परा के मिट्टी के बर्तन बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। इस वर्णन से स्पष्ट

होता है कि छठवीं शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई०पू० में लौह धातु अभियांत्रिकी में पर्याप्त विकास हो चुका था।

लगभग 1000 ई०पू० के मध्य चित्रितधूसर मृदभाण्ड परम्परा के अंतिम काल से लौह निर्मित एक हल जखेड़ा से प्राप्त हुआ है। यद्यपि पुरातात्विक स्रोत उत्तरवैदिक काल में लौह उपकरणों के विस्तृत व्यवहार का प्रमाण नहीं देते हैं। कुछ नगरों श्रावस्ती आदि से कृषि उपकरणों के प्रमाण नहीं मिलते हैं परन्तु यह आश्चर्य कि बात नहीं है क्योंकि एक ओर जहाँ ग्रामीण बस्तियों का उत्खनन नहीं के बराबर हुआ है वहीं दूसरी ओर सम्भव है कि कुछ उपकरण जंग लगने से नष्ट हो गए हैं।³

अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में क्रमशः पखीरखन्त और पौरीवम शब्दों का उल्लेख मिलता है। जिससे तात्पर्य उन धातु युक्त फालों से था जो धातु के बने होते हैं। पूर्व मौर्यकाल के साहित्यिक ग्रन्थों में लोहे के फालघोतक अनेक शब्द मिलते हैं। विनयपिटक में इसकी चर्चा स्पष्ट रूप में की गई है। इस प्रकार 6वीं शताब्दी ई०पू० तक लोहे का प्रयोग प्रचुरता से होने लगा था।

छठवीं शताब्दी ई०पू० में लोहे की जानकारी और इसके व्यवहार ने न सिर्फ आर्यों के गंगाघाटी में प्रचार में सहायता पहुंचायी बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था को भी क्रान्तिकारी रूप से प्रभावित किया। लोहे का कृषि में उपयोग होने से कृषि का विस्तार सम्भव हुआ। लोहे के बने हल के फाल की सहायता से खेतों की गहरी जुताई सम्भव हुई जिसके फलस्वरूप कृषि का उत्पादन बढ़ा।⁴ परिणामतः किसान अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज का उत्पादन करने लगा। इस अधिक उत्पादन को अवशेष उत्पादन कहा जा सकता है। इस उत्पादन के लिए कृषि क्षेत्र में पशुधन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। जिसके फलस्वरूप पशुबलि पर कालान्तर में प्रतिबन्ध लगना प्रारम्भ हो गया। पशुओं की संख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब लोग अपनी आवश्यकता से अत्यधिक उत्पादन करने में सक्षम हुए।

छठवीं से नौवीं शताब्दी ई०पू० लौह धातु अभियांत्रिकी के पर्याप्त विकास के साथ-साथ कृषि योग्य जल की उपलब्धता के परिणामस्वरूप अब उत्पादन अधिशेष होने लगे। अब बड़े पैमाने पर बस्तियों की स्थापना हुई और जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के साथ ही समाज में नवीन वर्गों का उदय हुआ।⁵ घाटी क्षेत्र में कृषि कार्य का प्रमाण ऋग्वैदिककाल से ही मिलते हैं।

चित्रित धूसर मृदभाण्ड स्थलों से यह संकेत मिलता है कि घाटी क्षेत्र में विश्वस्त एवं निरन्तर जीविका के स्रोतों के आधार पर अनवरत बस्तियाँ विद्यमान रहीं जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। छान्दोग्य उपनिषद् में अन्न के महत्व पर बल प्रदान किया गया है। साथ ही अधिक अन्न उपजाओं का नारा भी दिया गया है। इस ग्रन्थ से यह जानकारी भी मिलती है कि किस प्रकार वर्षा ने अन्न

उत्पादन में और सूर्य ने अन्न पकाने में सहायता दी। उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थ भी कृषि के महत्व का प्रतिपादन करते हैं।

कृषि में लौहे के उपकरणों के उपयोग के फलस्वरूप अधिशेष उत्पादन के साथ-साथ फसलों में विविधता भी आयी। पाणिनि के अनुसार पांचवी शदी ई0पू0 तक खेत दो या तीन बार जोते जाते थे और फसलों का वर्गीकरण होता था।⁶ प्रारम्भिक बौद्ध पाठों में उत्तम मध्यम और निकृष्ट के खेतों का जिक्र हुआ। उनसे सिंचाई ज्ञान और खेती बारी की तफसीलवार प्रक्रियाओं की भी जानकारी मिलती है। 6वीं शताब्दी ई0पू0 तक धान को बोने के बजाय रोपने का तरीका अपनाया गया। अब धान की सिंचित खेती से खाद्यान्नों की पैदावार बढ़ी। यहां धानों के कई प्रकारों का उत्पादन होने लगा। साथ ही यहां गेहूँ, जौ, मोटे अनाज, कपास और गन्ना की भी खेती होती थी।

नई कृषि अर्थव्यवस्था में पशुपालन भी सहायक था। पशुओं ने कृषि कार्य की उन्नति में अधिक योगदान दिया। यद्यपि वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था भी पशुपालन पर आधारित थी परन्तु इनकी कृषि पशुपालन से सम्बद्ध नहीं था। गंगा घाटी में पशुओं का पालन कृषि के निमित्त नहीं अपितु गाय, बैल आदि पशुओं का पालन मांस खाने के लिए होता था। जैसे पलायु की निकोशिया जनजाति द्वारा आज भी किया जाता है।

वैदिक तथा सम्बद्ध ग्रन्थों में हमें अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जो गौ हत्या की प्रथा के द्योतक हैं। उदाहरणतया हम गोविकर्ता (गौ हत्यारा) गव्यच्छ (वह व्यक्ति जो गाय की हत्या करता है या यातना देता है)। मोसव (गौ बलि) तथा गोयज्ञ का उल्लेख कर सकते हैं।⁷ यद्यपि प्रारम्भ में इन सभी प्रकारों की बलि दी जाती थी। परन्तु कृषि की बढ़ती आवश्यकताओं के साथ बाद में इन्हें ब्राह्मणों को दिया जाने लगा।

6वीं शताब्दी ई0पू0 शतपथ ब्राह्मण में गौ-मांस भक्षण पर विवाद परिलक्षित होता है। इसमें यह तर्क दिया गया है कि उस व्यक्ति को गौ-मांस भक्षण नहीं करना चाहिए जो यज्ञ के लिए निश्चित है। परन्तु याज्ञवल्क्य ने यह तर्क दिया है कि वह गौ-मांस खायेगा क्योंकि इससे उसका शरीर मोटा होता है। बौद्धों ने नई कृषि व्यवस्था को महत्व प्रदान किया और पशुबलि का बहिष्कार तथा पशुओं की अहिंसा पर बल दिया।⁸ ऋग्वेद में अधन्या शब्द अथवा न मारने योग्य बहुधा दूध देने वाली गायों के लिए प्रयुक्त हुआ है। सुत्तनिपात के अनुसार ब्राह्मणों को बुद्ध पशुओं की रक्षा का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार पशु हमारे माता-पिता बंधु तथा अन्य रिश्तेदारों की तरह हमारे मित्र हैं और उन्हीं की वजह से पौधे विकसित होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पशुधन कृषि पर निर्भर थी। यद्यपि कृषि के लिए पशुधन की सुरक्षा आवश्यक थी। परन्तु भोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक थी। अतः बौद्ध संभवतः गौ-मांस की अपेक्षा सुअर का मांस पसंद करते थे। कहा जाता है कि वैशाली के एक गृहस्थ उग्ग ने बुद्ध को चावल, रोटी, सुअर का मांस तथा काशी के वस्त्र अर्पित किए थे। इस प्रकार 6वीं शताब्दी ई0पू0 कृषि में पशुओं के महत्व को स्वीकार करते हुए उनकी रक्षा कृषकों का मुख्य कार्य हो गया।

कृषि के उन्नत ज्ञान और कारगर उपकरणों के उपयोग से किसान अधिक अधिशेष का उत्पादन करने लगे। जो पत्थर अथवा तांबे के उपकरणों से प्राप्त करना संभव नहीं था। इसने उत्तरी-पूर्वी भारत में लगभग 600 ई0पू0 में नगरीय बस्तियों की पृष्ठभूमि तैयार की।⁹ पालि ग्रन्थों में 20 नगरों की चर्चा है। जिनमें छः बुद्ध की मृत्यु से सम्बन्धित थे। पुरातत्व द्वारा मध्य-गंगा घाटी क्षेत्र में इस काल के अनेक नगर प्रकाश में आये। यद्यपि भारत में नगरीकरण का प्रारम्भ हड़प्पा काल से प्रारम्भ हुआ। जिसके प्रमाण हड़प्पाकालीन

अर्थव्यवस्था के अधिशेष उत्पादन शिल्पव्यवसाय व्यापार— वाणिज्य की प्रगति से मिलता है। परन्तु लौह तकनीक के फलस्वरूप कृषि ने अधिशेष उत्पादन ने नगरों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

6वीं शताब्दी ई0पू0 साहित्यिक स्रोतों में बड़े-बड़े नगरों का उल्लेख मिलता है। जिसमें कौशाम्बी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली राजगृह, चंपा, तक्षशिला इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।¹⁰ बुद्ध काल में पाटलिपुत्र का उल्लेख नगर के रूप में नहीं बल्कि पाटलिग्राम के रूप में हुआ। इस काल में नगरों के निर्माण में पकाई गई ईंटों का प्रयोग किया गया है। इस काल में राजगृह, वैशाली, चिरांद तथा कौशाम्बी जैसे नगरों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार 6वीं शताब्दी ई0पू0 के आस-पास उत्तरी-पूर्वी भारत में शहरी विकास कि जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी वह गुप्तकाल तक अनवरत चलती रही।

6वीं शताब्दी ई0पू0 में व्यापार का विकास शहरीकरण का कारण और परिणाम था। अब नगर अन्तोगत्वा एक प्रकार से मण्डी बन गये। प्रत्यक्षतः दस्तकार तथा सेटिट कहे जाने वाले व्यापारी नगरीय जन संख्या का एक बड़ा भाग था। ये व्यापार एवं उद्योग में संलग्न रहते थे। जातकों में पांच-पांच सौ या हजार-हजार गाड़ियों के साथों के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। एक कथानुसार राजगृह जाते हुए बुद्ध की मुलाकात बेलट्ट से हुई जो शकर से भरे पात्रों से लदे 500 गाड़ियों के साथ अंधकोविंद की ओर जा रहा था। इसमें वर्णित है कि व्यापारी जैसे कि उत्तरापथ के अरब व्यापारी अपना माल बेचने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कपड़ा व्यापार का एक महत्वपूर्ण माल था। पाली ग्रन्थों के अनुसार उत्तर 6वीं शताब्दी ई0पू0 भारत में कपास का आम इस्तेमाल होने लगा था। लेकिन व्यापार मुख्य रूप से विलासिता की वस्तुओं का ही होता था।¹¹

उपसंहार

आहत मुद्राओं के प्रयोग से व्यापार में सुगमता आयी। वेदोत्तर काल में धातु के सिक्के के इस्तेमाल को बढ़ावा मिला। वैदिक साक्ष्यों के बावजूद पूर्ववर्ती काल में सिक्कों का चलन संदिग्ध ही मालूम होता है। भारत में प्राप्त प्राचीन सिक्के बुद्धकाल के पहले के हैं। स्तर विन्यास की दृष्टि से आहत मुद्राएं 5वीं शताब्दी ई0पू0 की मानी जाती हैं और इनका प्रचलन कुछ पहले ही प्रारम्भ हुआ था। ये सिक्के व्यापारियों द्वारा जारी किये जाते थे। जिन पर धातु के टुकड़ों पर आकृतियों के टप्पे मारे जाते थे। अतः ये सिक्के आहत (पंच मार्क) सिक्के कहलाते हैं। आहत मुद्राओं के 300 से अधिक जखीरे ज्ञात होती हैं। इनमें से बहुत से सिक्के मध्य गंगा क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। इस क्षेत्र में मौद्रीकरण का स्तर किसी हद तक काफी ऊपर उठ चुका था। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में सिक्कों का चलन इतना आम हो गया था कि मेरे हुए चूहे की कीमत भी मुद्रा में ही बतायी जाती थी।

संदर्भ

1. थापर, रोमिला, पूर्व मध्य कालीन भारत—पृष्ठ 177।
2. अंगुत्तर निकाय, 1, 213।
3. गार्डन चाइल्ड, अर्बन रिवोल्यूशन, पृष्ठ 12—17
4. डी0एच0 गार्डन, दी प्रीहिस्टारिक बैंक ग्राउण्ड आफ इण्डियन कल्चर, पृष्ठ 71।
5. शर्मा, रामशरण, प्रारम्भिक भारत का परिचय, पृष्ठ 168।
6. ईश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति कला राजनीति धर्म दर्शन, पृष्ठ 154

7. आर०सी० मजूमदार: इज आफ इम्पीरियल यूनिट, पृ० 594
8. शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकोनामी, पृ० 60
9. चाइल्ड, अर्बन रिवोल्यूशन: एन्शिएन्ट सीरीज आफ द इण्डस पृ० 12-17
10. अंगुत्तर निकाय, 4, 252
11. झा० एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 140